लेकिन कर्म के बारे में ही निष्फलता की बात क्यों उठाई जाये? क्या ज़िन्दगी की हर चीज़ के बारे में ये बात नहीं उठाई जा सकती। मनुष्य की कोई भी साधना हो, ज्ञान की या अध्यात्म की, श्रेय की या रस बोध की सबमें सबके साथ एक अजीब निष्फलता बँधी हुई है, क्योंकि मनुष्य का पुरुषार्थ या मनुष्य की खोज उस किसी ऐसी अवस्था की है जो वो कभी प्राप्त कर ही नहीं सकता। उसे अनन्त कहा जा सकता है, पूर्ण कहा जा सकता है, या किसी ही ऐसे अन्य नाम से संकेतित किया जा सकता है, पर बात वही रहती है। इसकी ओर आज के साहित्य में खासकर जो पश्चिम में लिखा गया है उसमें बहुत चर्चा है और इसके पीछे जो वितृष्णा है जो निष्फलता का भाव है, थकान है, वह ज़िन्दगी की जवानी को भुलाकर ही दी गई है। इस बात को भुलाकर कि न बुढ़ापा, न मौत, ज़िन्दगी को समाप्त करती है। ज़िन्दगी किसी एक अकेले आदमी की नहीं होती, वो तो मनुष्य मात्र की सम्पदा है या प्राणी मात्र की, और उसने अथक परिश्रम से, पीढ़ी दर पीढ़ी वो सब अर्जित किया है जिसके आधार पर हम आज इस निष्फलता और निष्क्रियता की बात करते हैं, पुरुषार्थ से मुँह मोडते हैं, और परम्परा से कर्म सन्यास की बात लेते हैं और निवृत्ति की दुहाई देते हैं; मनुष्य के इतिहास के साथ इससे बड़ा विश्वासघात क्या होगा।

ये ठीक है कि थकावट महसूस होती है आदमी हाथ-पाँव हिलाने से भी कतराता है। पर अगर, प्राण रहेगा तो फिर जिजीविषा जागेगी, आँख खुलेगी, क्षितिज पर सूरज दिखाई देगा, आसमान पर चाँद, और प्यार की लालसा, बच्चों की किलकारी, चिड़ियों का चहकना, यानि वो सब कुछ जिसे ज़िन्दगी कहते हैं और अगर कहें इतना भी न हो सके, मृत्यु पास में आये तो भी फिर व्यक्ति की ही मत्यु होगी मनुष्य की नहीं। पुरुषार्थ व्यक्ति साधता है पर उस मनुष्य के संदर्भ में, जो हजारों, लाखों साल से कुछ साधता आया है और उस मनुष्य के लिये जो उसके बाद भी उनको, उस साधना को बढ़ायेगा जिसमें उसने अपना कुछ ध्येय या योगदान दिया हो।

ये ठीक है कि परम्परा में ये कहा गया है कि प्रलय भी होगी, और महाप्रलय भी, आज का विज्ञान भी ये कहता है कि एक दिन तो ऐसा आयेगा जब, कोई मनुष्य न प्राणी, न पृथ्वी, न कुछ और। सब पंच महाभूत अपने-अपने उसमें वापस चले जायेंगे जहाँ से वे आये थे। क्या सृष्टि की इस कहानी के बाद भी मनुष्य के पुरुषार्थ का, उसकी श्रेय साधना का कोई औचित्य रह जाता है। इसका उत्तर ये है कि चाहे पहले कुछ भी हुआ हो बाद में कुछ भी हो, हम जीते तो वर्तमान में ही है और उसी में फूल खिलाते हैं मुस्कुराहट भी और अगर हम ऐसा कर पाते हैं तो कम से कम उस क्षण को सार्थक मानते हैं, महसूस भी करते हैं और खाली हम ही नहीं दूसरे भी।

अनेकान्त : कुछ समस्याएँ

अगर हम ज्ञान की बात को छोडकर ज्ञान के विषय की बात करें और ज्ञान के स्वरूप को उसके विषय के रूप में अनिवार्य रूप से सम्बन्धित देखें तो शायद अनेकान्त का सिद्धान्त जो बात कहने की चेष्टा करता है वह अधिक समझ में आए। साधारणत: ज्ञान का विषय देश और काल में स्थित होता है और जो काल में है उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परन्तु 'ज्ञान' को यह कहता है कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है', और इस 'कहने' का काल की सत्ता परिवर्तनशीलता से कोई सम्बन्ध दिखई नहीं देता। यही नहीं, वह तो उस सतत् परिवर्तनशीलता को नकारता दिखाई देता है। उसके लिए तो ऐसा लगता है—सब कुछ चिरंतन है, स्थिर है, कहीं कोई बदलाव गुंजाइश ही नहीं है। जो 'है' सो है, जो 'नहीं' है वह नहीं है। पर अगर काल सत्य है, तो जो 'है', उसका 'नहीं' होना अवश्यम्भावी है; और इसी प्रकार शायद जो 'नहीं है' उसका 'होना'। दूसरी बात उतनी सच नहीं लगती, लेकिन अगर 'नहीं' होने को, 'होने' के सन्दर्भ में देखें तो शायद वह उतनी गलत नहीं लगेगी।

अनेकान्त पर 'स्वतन्त्र' विचार तभी हो सकता है जब उसे उसके इतिहास से 'मुक्त' किया जा सके। उसका इतिहास जैन दर्शन के इतिहास से इस तरह बँधा हुआ है कि उसकी मुक्ति की बात करना उसे उस दार्शनिक चिन्तन से विच्छिन्न करना होगा जो 'जैन' दर्शन के नाम से जाना जाता है।

यह बात एक तरह से समस्त भारतीय चिन्तन पर भी लागू होती है, क्योंकि सभी चिन्तन की परम्परायें सम्प्रदाय-विशेष से अपने को बँधा मानते हैं।

इस सन्दर्भ में दूसरी बात जो ध्यान में रखनी है, वह यह है कि अगर किसी विचार का 'इतिहास' है, तो वह सदा एक-सा रहा है—यह नहीं माना जा सकता। 'अनेकान्त' हो, या छ और, अगर उसका इतिहास है तो यह अनिवार्य रूप से मानना पड़ेगा कि 'कालक्रम' में उस पर जो विचारह आ है उसमें अवश्य

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए होंगे, और अगर ऐसा है, तो यह भी मानना पड़गा कि उमसें और भी परिवर्तन हो सकते हें।

अनेकान्त का विरो 'एकान्त' या 'ऐकान्तिक' ही हो सकता है। पर 'जो भी है' वह तो अपने आप में 'एक' ही समझा जाएगा। 'अनेक' भी 'एक-एक' के मिलने से ही बनता है और अगर ऐसा नहीं है तो फिर 'अनेक' स्वयं 'एक' का रूप ले लेगा।

'एक' और 'अनेक' का भेद स्वयं सापेक्ष है। यह बात 'अवयवी' और 'अवयव' के सम्बन्ध में साफ दिखाई देते हैं। अवयवी 'एक' है, अवयव अनेक और यदि थोड़ा और ध्यान दें तो क्या 'एक' है और क्या 'अनेक'—इसकी सीमा बाँधना मुश्किल होगा। गणित के साधारण विद्यार्थी को भी यह पता है कि विभाजन की प्रक्रिया अनन्त है और अगर ऐसा है तो फिर यह कहना कि क्या एक है और क्या अनेक, इसी बात पर निर्भर करेगा कि आप उसको किस प्रकार देख रहे हैं या किस 'सन्दर्भ' में या किस प्रयोजन के लिए।

गणित की बात को हम यहाँ आगे नहीं बढ़ाना चाहते, पर जो लोग 'एक' या 'अनेक' की चर्चा करते हैं उन्हें कम से कम इसका ध्यान रखना जरूरी है।

सत्य की बात करते ही जा पहला सवाल उठता है, वह यह है कि इसकी बात केवल ज्ञान के बारे में ही हो सकती है, या जो ज्ञान का विषय है—उसके बारे में भी। ज्ञान के सन्दर्भ में सत्य, असत्य की बात तो सभी करते हैं और अनेकान्त की बात भी अधिकतर इसी संदर्भ में की जाती है। आमतौर पर करीब-करीब सभी यह मानते हैं कि कोई बात या तो 'सच' होती है या 'झूठ' और अगर वह सच हो तो झूठ नहीं होती है और अगर झूठ होती है तो सच नहीं। अनेकान्त के दावेदार आमतोर पर इस मान्यता का खण्डन करते प्रतीत होते हैं और ऐसा कहने की कोशिश करते हैं कि किसी भी बात के बारे में यह कहना कि वह 'सच' है या 'झूठ' है—एकांगी है। क्योंकि अगर हम ध्यान से देखें तो वही बात सच भी दिखेगी और झूठ भी। लेकिन स्वयं अनेकान्त को मानने वाले इस बात को स्वीकार करन से कतराएंगे कि अगर उनकी यह बात ठीक है तो उनकी बात भी न तो सच कही जा सकती है, न झूठ और न दोनों ही। अपनी बात को तो वे पूर्णत: सच मानकर ही बात करते हैं और इस अन्तर्विरोध को देखने से इन्कार करते हैं।

यह बात एक तरह से उन सब बातों पर लागू होती है जो 'सब' बातों के बारे में बात करती हैं। लेकिन, ऐसा जरूरी नहीं है, क्योंकि जो लोग सच और झूठ के

बारे में अनेकान्त के सिद्धान्त को नहीं अपनाते उनके लिए इस प्रकार की समस्या नहीं उठेगी।

परन्तु अगर हम ज्ञान की बात को छोड़कर ज्ञान के विष्य की बात करें और ज्ञान के स्वरूप को उसके विषय के रूप से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित देखें तो शायद अनेकान्त का सिद्धान्त जो बात कहने की चेष्टा करता है वह अधिक समझ में आए। साधारणत: ज्ञान का विषय देश और काल में स्थिर होता है और जो काल में है उसमें परिवर्तन होना स्वाभावक है। परन्तु 'ज्ञान' तो यह कहता है कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है', और इस 'कहने' का काल की सतत परिवर्तनशीलता से कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। यही नहीं, वह तो उस सतत परिवर्तनशीलता को नकारता दिखाई देता है। उसके लिए तो ऐसा लगता है—सब कुछ चिरंतन है, स्थिर है, कहीं कोई बदलाव की गुंजाइश ही नहीं है। जो 'है' सो है, जो 'नहीं' है वह नहीं है। पर अगर काल सत्य है, तो जो 'है', उसका 'नहीं' होना अवश्यम्भावी है; और इसी प्रकार शायद जो 'नहीं है' उसका 'होना'। दूसरी बात उतनी सच नहीं लगती, लेकिन अगर 'नहीं' होने को, 'होने' के सन्दर्भ में देखें तो शयद वह उतनी गलत नहीं लगेगी।

भव-जगत के सन्दर्भ में अनैकान्तिकता की बात की ही नहीं गई है, लेकिन की जानी चाहिए। इसके सन्दर्भ में अनैतिकता का अर्थ क्या होगा, यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन, अगर हम कलाकृतियों को भाव-जगत के चित्रण के रूप में देखें तो इतना तो स्पष्ट ही होगा कि इनमें परस्पर अन्तर्विरोध से ग्रसित भावनाओं को एक साथ सामंजस्य में लाने की सदैव चेष्टा हाती है। यहाँ साधारणत: वे एक-दूसरे की विरोधी न होकर, एक-दूसरे की पूरक के रूप में अनुभूत होती। चाहे काव्य हो या नाट्य, चित्र हो या नृत्य, वास् हो या संगीत, सबमें सदैव यह सत्य दृष्टिगोचर होता है। इसको 'अनैकांतिक' कहे या ना कहें, यह अलग बात है।

पर क्या सब चीजें या ज्ञान के सब विषय अनिवार्य रूप से देश और काल में स्थित होते हैं। 'विषय' होने का अर्थ यह नहीं होता कि वह देश या काल में हो। देश या काल में होना उसका आगन्तुक गुण है, अनिवार्य गुण नहीं। दूसरी ओर, ज्ञान के लिए देश और काल में स्थित विषय का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि उसकी उनमें स्थिति इस प्रकार बताई जा सके कि वे उनके गुणों का रूप ले लें। कौन चीज कहाँ और कब है, यह बताना मुश्किल बात नहीं है, हालांकि विज्ञान प्रगति ने इन दोनों के बारे में जो समस्याएँ और शंकाएँ उठाई हैं, उनसे अब यह बात कम से कम उतनी स्पष्ट नहीं है, जितनी पहले थी। फिर भी किसी चीज की देश-काल में स्थिति बताना और इस तरह से उसकी सत्यता-असत्यता का उसके ज्ञान के सन्दर्भ में निर्धारण करना कठिन नहीं है।

यही नहीं, अगर 'वस्तु' को कालक्रम में 'घटना-प्रवाह' के रूप में देखें तब भी उसे ज्ञान में आबद्ध किया जा सकता है। भविष्य को हम उसी प्रकार ज्ञान-प्रक्रिया में पकड़ सकते हैं, जिस प्रकार वर्तमान को। यही नहीं, कार्यकारण के नियम के द्वारा भविष्य में होने वाली घटनाएँ वर्तमान में जो है, उससे इस प्रकार सम्बन्धित देखी और दिखाई जा सकती हैं, जैसे वो वर्तमान में ही हों इस प्रकार ज्ञान काल में दिखने वाली निरन्तर परिवर्तनशीलता को नकारता भी है और उसे इस प्रकार का 'स्थयित्व' भी प्रदान करता है, जैसे वह केवल आभासमात्र हो, सत् नहीं। ज्ञान को इसीलिए 'कालातीत' कहा गया है, अर्थात् उसका काल से कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरी ओर, ज्ञान के उन विषयों के बारे में, जिनका 'देश-काल' से कोई सम्बन्ध नहीं है, उस प्रकार से अनेकान्तता की बात करने का कोइ अर्थ ही नहीं हो सकता जो कि उन विषयों के सन्दर्भ में होती है जो देश-काल में अनिवार्य रूप से अवस्थित माने जाते हैं। गणित के सिद्धान्त कुछ इसी प्रकार के विषय हैं। 'दो और दो चार' होते हैं, इसके बारे में क्या अनेकान्तता होगी? क्या इसके विषय में भी कोई अनेकान्तवादी दार्शनिक यह कहेगा कि यह 'सत्य' भी है और 'असत्य' भी? यह ठीक है कि आज के गणितीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'दो और दो चार' की सत्यता किन्हीं पूर्व मान्यताओं पर आधारित है। लेकिन यह जा बात कही जा रही है इससे कोई खास फर्क पड़ने वाला नहीं है, क्योंकि यह आसानी से कहा जा सकता है कि यदि कोई इन पूर्व मान्यताओं को मानता है तो उसे अनिवार्य रूप से यह मानना पड़ेगा कि दो और दो चार होते हैं। तर्कशास्त्र का मूल आधार यही है कि यदि आप यह मानते हैं, तो आपको यह भी मानना पड़ेगा। इसमें किसी तरह की अनैकातिकता की सम्भावना दिखाई नहीं देती।

कहने का अर्थ यह है कि ज्ञान का विषय चाहे देशकाल में अनिवार्य रूप से अवस्थित हो या उनसे स्वतन्त्र उसे सदैव इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है कि उसमें अनेकान्तता की सम्भावना ही न रहे।

यदि यह सच है तो अनैकान्तिकता की बात उस वाक्य की असम्पूर्णता पर ही निर्भर होगी जो किसी सत्य का वर्णन करता है, स्वयं उस तथ्य या सत् पर नहीं, जिसका वर्णन किया जा रहा है। एक तर से यह बात स्वयं स्याद्वाद के सिद्धान्त में परिलक्षित होती है। 'स्याद्' को जोड़ने से, वाक्य के पहले 'स्याद' लगाने से, अगर वाक्य की अनैकानतिकता समाप्त हो जाती है, तो इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि 'दोष' उस वाक्य का था, जिसके द्वारा उस तथ्य का वर्णन किया जा रहा था। जैन दार्शनिक 'स्याद्' लगाकर ही अनैकान्तिकता से छुट्टी पाना चाहते हैं। लेकिन उन्होंने यह नहीं सोचा कि वाक्य की अनैकानतिकता की

ओर दूसरे तरीकों से भी हटाया जा सकता है। यही नहीं, स्याद्वाद के सिद्धान्त का अर्थ सांक तभी हो सकता है जब उसको इस मान्यता के परिप्रेक्ष्य में देख जाए कि जिन वाक्यों के साथ यह हनीं लगा होता, व अपने आपमें अपूर्ण हैं और अन्ततोगत्वा भ्रामक हैं। वास्तव में देखा जाए तो वे वाक्य हैं ही नहीं, केवल वाक्य का आभास मात्र है।

अनैकान्तिकता की बात भेद को प्रधान मानकर चलती है और 'भेद' सर्वत्र व्यापत है। इस 'भेद' को भारतीय दार्शनिक परम्परा में केवल 'अद्वैत दान्त' ने ही पूर्ण रूप से असवीकार किया है और अगर ऐसा है तो अनैकान्तिकता अनेक रूपों में उन सब दर्शनों में मिलनी चाहिए जो अद्वैत दृष्टि को मूलत: अस्वीकार करते हैं। अनैकानतिकता का जो रूप जैन दार्शनिक परम्परा में प्रस्फुटित हुआ है, वह उसका ही एक रूप है। अनैकानतिकता पर चिन्तन, गहन चिन्तन तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वयं अनैकान्तिकता में अनेकता की सम्भावना को स्वकार नहीं किया जाए।

स्याद्वाद का सप्तभंगी रूप में देखना जैन दार्शनिक परम्परा में सर्वमान्य है, परन्तु जहाँ एक ओर तो यह उस अनैकान्तिकता को सीमाबद्ध करने की चेष्टा है, वहीं दूसरी ओर 'अवक्तव्य' की बात करने से उस अनैकान्तिकता पर स्वयं ही सन्देह का चिह्न लगाती है। अनैकान्कता को सीमाबद्ध करने का अर्थ यही है कि वास्तव में अनैकान्तिकता नहीं है। अगर सम्भावना 'एक' है तो वह ऐकान्तिक है और यदि किसी दूसरे के 'साथ' एकजुट है अनैकान्तिक है, यह तभी माना जा सकता है जब किन्हीं दो चीजों के एक साथ होने को ऐकान्तिक न कहा जाए। कमरे में कुर्सी एक हो, तो उससे वह कोई ऐकान्तिक नहीं हो जाता, उसी तरह जैसे अगर कई कुर्सिया एक साथ होती हैं तो वे अनैकान्तिक नहीं हो जातीं। शायद 'अनैकान्तिक' कहने का अर्थ यह होता है कि वस्तु के अनेक पर्याय होते हैं। परन्तु इससे उस 'एक' की 'एकता' पर आंच कैसे आती है? अगर'एक' है ही नहीं, तो अनैकान्तिकता की बात करना व्यर्थ है; और अगर एक है, तो भी।

'अवक्तव्य' की बात करना तो और भी आश्चर्यजनक है। अगर जैन दार्शनिक वास्तवम अनैकान्तिकता को मानते हैं तो 'अस्ति-नास्ति' को एक साथ कहने में क्या कठिनाई प्रतीत होती है? कठिनाई का प्रतीत होना ही इस बात का सूचक है कि 'अस्ति-नास्ति' को एक ही सन्दर्भ में एक साथ कहने में कुछ दोष है; पर इस दोष का परिहार 'अवक्तव्य' कहने से नहीं किया जा सकता। यही नहीं 'अवक्तव्य' को फिर 'अस्ति-नास्ति' से जोड़ने पर उनका अलग अपना कोई अर्थ ही नहीं रहता।

अनैकान्तिकता की चर्चा जिन वाक्यों के सन्दर्भ में की गई है, व वर्णनात्मक वाक्य हैं। पता नहीं क्यों, जैन दार्शनिक परम्परा में विधि-निषेधात्मक वाक्यों के सन्दर्भ में इकसी चर्चा नहीं की ई। 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए', क्या इसके बारे में भी अनैकान्तिकता हो सकती है? व्यवहार और चरित्र के सन्दर्भ में अनैकानतिकता की बात साधारणत: जैनियों को ही नहीं, अन्य लोगों को भी, मान्य नहीं होती। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या ज्ञान के सम्बन्ध में अनैकान्तिक होने पर व्यवहार के सन्दर्भ में वैसा ही नहीं होना पड़ेगा? ज्ञान और कर्म में गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि कर्म मनुष्य योनि में तो ज्ञान पर ही आश्रित होता है, औरअ गर ज्ञान अनेकानतिक है तो कर्म को भी अनैकान्तिक मानना पड़ेगा।

एक तरह से देखें तो कर्म के सन्दर्भ में अनैकान्तिक होना अधिक आसान दिखाई देता है, क्योंकि कर्म में हमेशा विकल्प होता है। विकल्प के बिना मनुष्य के स्तर पर कर्म की बात की ही नहीं जा सकती। कर्म में हमेशा एक स्वातन्त्र्य होता है, जिसका आधार यही होता है कि ऐसा भी किया जा सकता है और इससे भिन्न भी। इसको यह कहकर नकारा नहीं जा सकता कि विकल्प अच्छे-बुरे में होता है और जो अच्छा है उसको करना चाहिए, इसमें विकल्प की कोई बात सोची ही नहीं जा सकती। ऐसा सोचने की पूर्व-मानयता यह है कि जो अच्छा है उसमें विकल्प हो ही नहीं सकता। कर्म के सन्दर्भ में ऐसे कई विकल्प होते हैं, जो सब अपने-आप में एक से एक 'अच्दे' प्रतीत होते हैं और इसलिए उनमें चयन मुश्किल होता है।

भाव-जगत के सन्दर्भ में अनैकान्तिकता की बात की ही नहीं गई है, लेकिन की जानी चाहिए। इसके सन्दर्भ में अनैकान्तिकता का अर्थ क्या होगा, यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन, अगर हम कलाकृतियों को भाव-जगत के चित्रण के रूप में देखें तो इतना तो स्पष्ट ही होगा कि इनमें परस्पर अन्तर्विरोध से स्थित भावनाओं को एक साथ सामंजस्य में लाने की सदैव चेष्टा हाती है। यहाँ साधारणत: वे एक-दूसरे की विरोधी न होकर, एक-दूसरे की पूरक के रूप में अनुभूत होती हैं। चाहे काव्य हो या नाट्य, चित्र हो या नृत्य, वास्तु हो या संगीत, सबमें सदैव यह सत्य दृष्टिगोचर होता है। इसको 'अनैकान्तिक' कहें या ना कहें, यह अलग बात है। परन्तु इतना तो साफ ही है कि इन क्षों में परस्पर विरोधी अनुभव होने वाली भावनाएँ ही मिलकर एक भाव-जगत की सृष्टि करती हैं जो उनको अपने में समाहित करके एक ऐसे भाव को उत्पन्न करती हैं जो उनको विरोध के रूप में महसूस करते हुए भी उनके आधार पर एक 'भाव' को अनुभूत करता है। यही नहीं, अगर उस विरोध को समाप्त कर दिया जाए या नष्ट कर दिया जाए तो वह भाव ही समाप्त नहीं हो जाएगा, बल्कि 'कृति' भी प्राणहीन या निर्जीव हो जाएगी।

यह सब ठीक होते हुए भी, आश्चर्य की बात तो यह है कि अनुभूत भाव-जगत जो कलाकृतियों से स्वतन्त्र है—उसमें हम इस विरोधाभास को न सहन कर सकते हैं, न स्वीकार। वहाँ तो आदमी शान्ति चाहता है या आनन्द। कला के माध्यम से, या कहें तो, कलाकृतियों पर आश्रित या उन पर अवलम्बित भाव की अनुभूति, जिसको भारतीय परम्परा में 'रस' का नाम दिया गया है, 'रतन्त्र' है और इसलिए मनुष्य की चेतना को अन्ततोगत्वा अस्वीकार है। कहाँ तक देखें, सुने या अन्य इन्द्रियों से उस सबको ग्रहण करें जिसकी मनुष्य ने रचना की है? इसकी थकावट की बात न कहीं गई है, न रखी गई है, पर आँखें देखते-देखते की जाती हैं और सुनते-सुनते कान पक जाते हैं। भाव-जगत में चेतना सब बाहर की वस्तुओं से स्वतन्त्र होना चाहती है। अपने-आप में सहज रूप में स्थित। लेकिन यहाँ तो न कोई विरोध है, न व्याघात। शायद, अनैकान्तिकता की बात चेतना की उस प्रवृत्ति में ही उद्भूत हाती है जो बर्हिमुखी है, जो कुछ जानना चाहती है, करना चाहती है, या उनके आधार पर किसी ऐसे भाव-जगत की रचना करना चाहती है जो उसे कम से कम कुछ क्षणों के लिए सौन्दर्य में अन्तर्भूर्त प्राण आविर्भूत कर सके।

अनैकान्तिकता की बात भेद को प्रधन मानकर चलती है और 'भेद' सर्वत्र व्याप्त है। इस 'भेद' को भारतीय दार्शनिक परम्परा में केवल 'अद्वैत वेदानत' ने ही पूर्ण रूप से अस्वीकार किया है और अगर ऐसा है तो अनेकान्तिकता अनेक रूप में उन सब दर्शनों में मिलनी चाहिए जो अद्वैत दृष्टि को मूलत: अस्वीकार करते हैं। अनैकार्न्तिकता का जो रूप जैन-दार्शनि परम्परा में प्रस्फुटित हुआ है, वह उसका एक ही रूप है। अनैकानतिकता पर चिन्तन, गहन चिन्तन तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वयं अनेकान्तिकता में अनेकता की सम्भावना को स्वीकार नहीं किया जाए। यही नहीं, ऐकान्तिकता क्या वास्तव में अनैकान्तिकता की विरोधी है, और अगर है तो किस तरह, किन क्षेत्रों में और कहाँ तक? आग्रह से मुक्त चिन्तन की चेष्टा तभी हो सकती है, जब हम इस प्रत्यय पर इन प्रश्नों के सन्दर्भ में नए सिरे से विचार करें, या कम से कम करने की कोशिश करें।

❑